जिनशासन उद्योतकर, स्वानुभूतिमय जिनधर्म प्रभावक,
निश्चयरत्नत्रय विभूषित, अध्यात्मयोगी,
अदभुत ज्ञान–ध्यानमय जीवन व्यतीत करनेवाले गुरुवर्य तारणहार
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की १२६ वीं मंगल जन्मजयंति प्रसंग पर
उनके चरणोंमें भावभिगी वंदना !!

अनेक शताब्दिओं के इतिहास को देखा जाये तो ऐसे तीर्थंकर द्रव्य का उदय हो और इतने–इतने सालों तक सम्यग्दर्शन जैसे प्रयोजनभूत विषय पर उपदेश चला हो ऐसा इतिहास में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिले ऐसा है। जिन्हें ऐसा योग उपकारी हो उन्हें तो अनंत तीर्थंकर से अधिक लगते है। जिसे गोली लगे उसके संसार की मृत्यु हो गई। उसका तो अनंत तीर्थंकरो से जो काम नहीं हुआ वह हो गया। (–पूज्य भाईश्री शशीभाई)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत - २५४१ : अंक-२१० : वर्ष - १९ : अप्रैल–२०१५

ज्येष्ठ कृष्ण ३, सोमवार, दि. ६–६–१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन–१, गाथा–१ से ३

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति सिद्धस्वरूपी आत्मा है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' इस आत्माका स्वरूप जैसे सिद्ध भगवान, अशरीर सिद्ध परमात्मा आठ कर्मरहित हुए, उनका यहाँ पहले मांगलिक करेंगे। ऐसा ही आत्मा, सिद्ध समान आत्मा है, उसके अन्तरस्वरूप में उसका योग अर्थात् आत्मा में दर्शन–ज्ञान–चारित्र के अन्तर व्यापार द्वारा सार अर्थात् प्रगट सिद्ध परमात्मदशा प्रगट करना, उसे यहाँ योगसार कहा जाता है। समझ में आता है ?

'योगेन्द्रदेव' महामुनि दिगम्बर सन्त लगभग चौदह सौ वर्ष पहले भरतक्षेत्र में, महाप्रभु कुन्दकुन्दाचार्य के बाद भरतक्षेत्र में हुए हैं। लगभग पूज्यपादस्वामी के बाद ये हुए हैं। इन्होंने यह परमात्मप्रकाश एक बनाया है और एक यह योगसार (बनाया है)। अपने परमात्मप्रकाश के व्याख्यान पूर्ण हो गये हैं। अब योगसार (चलेगा)।

देखो, पहला नमस्कार मांगलिक करते हैं। पहले मांगलिक करते हैं। 'योगेन्द्रदेव' स्वयं 'योगसार' के प्रारम्भ में मांगलिक (करते हैं)। स्वयं महासन्त हैं, आचार्य हैं, अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति जाने के पात्र और योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थकर्ता 'योगीन्द्रदेव' शुरुआत में महान मांगलिकरूप में सिद्ध परमात्मा को याद करते हैं, सिद्ध भगवान का स्मरण करते हैं।

सिद्धों को नमस्कार

णिम्मलझाण परिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि।।१।।

'**जिन्होंने...**' तीसरे पद में '**जेण**' शब्द है न ? '**जेण**' अर्थात् '**जिन्होंने...**' '**णिम्मलझाण परिट्ठिया**'–'**शुद्ध ध्यान में स्थिर होकर...**' देखो ! यहाँ से बात ली है। कर्म नष्ट हुए और यह ध्यान हुआ–ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? '**णिम्मलझाण परिट्ठिया**' ये सिद्ध भगवान कैसे हुए ? परम आत्मा अशरीरी–णमो सिद्धाणं...। यह पाँच पद में दूसरा पद है, वे सिद्ध परमात्मा किस प्रकार, किस विधि, किस उपाय से सिद्ध पद को प्राप्त हुए–यह बात पहले प्रसिद्ध करते हैं।

‘**णाम्मलझाण परिट्ठिया**’ निर्मल अर्थात् शुद्ध ध्यान। भगवान आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द, ज्ञानानन्दस्वरूप, उसमें शुद्ध, निर्मल, एकाकार, स्वरूप के ध्येय से अन्तर में एकाकार होकर निर्मल ध्यान में (स्थिर होकर सिद्ध हुए हैं)। यहाँ तो ध्यान से बात ली है। भगवान आत्मा (में) मोक्षमार्ग की शुरुआत ही ध्यान से होती है। कुछ समझ में आया ? पर तरफ के जितने विकल्प, शुभाशुभभाव (होते हैं), वह तो बन्ध का कारण है। यह आत्मा, परमात्मा सर्वज्ञदेव ने शुद्धस्वरूप देखा है। कुछ समझ में आया ? भगवानने (ऐसा आत्मा देखा है)।

‘प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल’–सर्वज्ञ परमेश्वर से कहते हैं कि हे नाथ ! ‘प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निज शुद्ध सत्ता से सबको आप देखते हो लाल।’ हे सर्वज्ञदेव ! आप तो सर्व जीवों को शुद्ध सत्ता आनन्दमय है–ऐसे देखते हो। कुछ समझ में आया ? ‘प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निजसत्ता से शुद्ध...’ निजसत्ता–अपना अस्ति, जो निज है। निज सत्ता से शुद्ध परमानन्द मूर्ति अनाकुल शान्तरस है। ‘**निजसत्ता से शुद्ध सबको देखते...**’ हे परमात्मा ! समस्त आत्माओं को उनकी निज सत्ता में–निज अस्ति में स्वयं की अस्ति में, स्वयं की हयाती में, अपने अस्तित्व में, अपने अन्तर आत्मा की मौजूदगी में, भगवान आप तो सब आत्माओं को शुद्ध देखते हो। समझ में आता है कुछ ?

यह ‘निजसत्ता से शुद्ध सबको देखते’–समस्त आत्माएँ, परमात्मा निजसत्ता से शुद्ध है। ऐसी निजसत्ता, सत्ता अर्थात् अपना होनापना, अस्तित्व; होनापना अनादि का भगवान आत्मा, उसका होनापना पवित्र और शुद्धस्वरूप से ही उसका अस्तित्व है। उसमें (होनेवाला) कितना ही पुण्य–पाप का विकार, वह कहीं उसका निज अस्तित्व नहीं है, वह निज सत्ता नहीं है–ऐसा भगवान देखते हैं; इस प्रकार जो कोई आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान (करे...) देखो ! उसमें एकाकार होकर निजसत्ता की शुद्धता को लक्ष्य में ध्येय में, स्थिरता में लेकर ज्ञान–श्रद्धा और चारित्र (द्वारा) इस निज शुद्ध सत्ता को आश्रय बनाकर, (जो) अन्दर निर्मल ध्यान द्वारा स्थिर हुए, इसके द्वारा हे प्रभु ! आप सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। कुछ समझ में आया ?

‘**णिम्मलझाण परिट्ठिया**’ पहले यहाँ से मांगलिक शुरु किया है। कर्म मिटे और कर्म गले और कर्म मन्द पड़े, इसलिए आप ध्यान में आये–ऐसा नहीं लिया है। अभी कितने ही कहते हैं न ? ज्ञानावरणीय (कर्म का) क्षय होवे तो ज्ञान होगा–ऐसा कहो। ज्ञान की उत्पत्ति होगी तो ज्ञानावरणीय का क्षय हो जाता है–ऐसा मत कहो–ऐसा (कहते हैं)। कुछ समझ में आया ? यहाँ पहले शब्द से यह शुरू किया है, देखो ! इसमें

कर्म को याद भी नहीं किया। '**णिम्मलझाण परिट्ठया**' '**परिट्ठया**' शब्द है। निर्मल शुद्ध अन्तर एकाग्र परिस्थित... परिस्थित-पर (अर्थात्) समस्त प्रकार से स्थिर हुए, स्वरूप में एकाग्र (हुए)। यों तो शुक्लध्यान लेना है। कुछ समझ में आया ? एकदम सिद्धपद है न ? परन्तु प्रथम '**परिट्ठया**' कहा है न ? सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, उसमें निर्मल शुद्धस्वरूप की भगवान की दृष्टि में निर्मलरूप परिणमे, तब उसका ध्यान, एकाग्र होता है, स्वभाव में एकाग्र होता है परन्तु वह ध्यान समस्त प्रकार से स्वरूप में स्थिरता नहीं करता। कुछ समझ में आया ?

धर्मदशा प्रगट होने के काल में, धर्मदशा के प्रगट काल में इस शुद्ध चैतन्यमूर्ति की एकाग्रता का अंश प्रगट होता है, तब उसे धर्म की शुरुआत कहते हैं। यह भगवान तो शुरुआत करने के पश्चात् पूर्णता की प्राप्ति के काल के समय, उन्होंने क्या किया ?- यह बात करते हैं। आहा..हा...! कहते हैं कि जिन्होंने शुक्लध्यान में स्थित होते हुए..., '**शुद्ध ध्यान स्थित होते हुए...**' ऐसा लिखा है। भगवान आत्मा ! निर्मल शब्द है न ? इसलिए उसमें सब आ जाता है, शुक्ल निर्मल भी आ जाता है।

यह आत्मा प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आत्मा में-निजसत्ता में, सत्ता के अस्तित्व में, अपने होनेपने में तो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। निजसत्ता-अपना होनापना जो कायमी असली है, उसमें तो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द ही पड़ा है। भान नहीं है, बाहर में गोते खाता है, धूल में और कहीं पैसे में और स्त्री में, पुत्र में, होली में बाहर में कहीं सुख है-ऐसा मूढ़ अनादि से मानता है। समझ में आया ? मिथ्याभ्रमणा करके (मानो) बाहर में कहीं सुख, राजपाठ, बादशाहत, इन्द्र के इन्द्रासन या लक्ष्मी का बड़ा ढेर-पुन्ज धूल का पड़ा हो (उसमें सुख) मानता है; है नहीं; सुख तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि भाई ! तेरे अस्तित्व में सुख है; दूसरे के अस्तित्व में तेरा सुख नहीं है। समझ में आया इसमें कुछ ? दूसरे के अस्तित्व में, परमात्मा-दूसरे सिद्ध भगवान हों, परन्तु उनके अस्तित्व में तेरा अस्तित्व का आनन्द वहाँ नहीं है, आहा..हा...! अभी 'सर्वज्ञ' ऐसा बोले सही 'केवलीपण्णत्तो धम्मो सरणं'-भगवान जाने एक भी अर्थ समझे तो। तुम ऐसे के ऐसे सब युवा लोगों ने ऐसे के ऐसे बिताया। ऐसा कि दूसरे होंगे इसलिए भूले परन्तु हम भूले हैं, इसलिए ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

'केवली पण्णत्तो धम्मो सरणं' वे सर्वज्ञ परमेश्वर निज अस्ति में-त्रिकालवस्तु में अकेला अतीन्द्रिय आनन्द ही भगवान ने देखा है। इस आत्मा में, हाँ ! उस अतीन्द्रिय आनन्द की नजर करके उसमें जो '**परिट्ठिया**' (अर्थात्) विशेषरूप से ध्यान में स्थिर हुए। बाहर से अत्यन्त उपेक्षा करके अन्दर में स्थिर हुए। शुद्धध्यान में से पहला मांगलिक वाक्य ही यह प्रयोग किया है '**णिम्मलझाण परिट्ठिया जेण**'। समझ में आता है ? जिन्होंने भगवान सिद्ध हुए उन्होंने,... जो भगवान सिद्ध हुए उन्होंने, भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप में लीनता का ध्यान किया, यह उसकी क्रिया ! मोक्ष प्राप्त करने की, मोक्ष के मार्ग की यह क्रिया है। बीच में कोई दया, दान, व्रत का विकल्प आता है, वह कोई मोक्ष के मार्ग की क्रिया नहीं है। आहा..हा...!

पहले से आचार्य ने (यह बात शुरु की है)। 'योगसार'... योग अर्थात् आत्मा के उपयोग में जुड़ान करना, वह मोक्ष का मार्ग है। समझ में

आया ? पर में कहीं जुड़ान हो, रागादि व्यवहार हो परन्तु वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं है। बन्ध के मार्ग के सब विकल्प हैं। भगवान आत्मा अपने आनन्द के अन्दर पहले प्रतीत में अनुभव में लिया हो, फिर उस आनन्द को पूर्ण पर्याय में प्राप्त करने के लिये जिन्होंने स्वरूप में लगनी लगाई है, ध्यान की लगन अन्दर में लगी, अन्दर में छटपटाहट लगी-ऐसे ध्यान में स्थित होते हुए... '**कम्मकलंक डहेवि**' यह अब ऐसा लिया। '**कर्मों के मल को जला डाला है।**' कर्म के कलंक को जला दिया है। कर्म जले, इसलिए ऐसा ध्यान हुआ है-ऐसा नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'कर्म बिचारे कौन ?' वे तो जड़ पदार्थ हैं, निमित्त हैं, तू विकार करे तो कर्म का आवरणरूप से निमित्त होता है और स्वरूप का ध्यान करे तो वे मिट जाते हैं। वे कर्म नहीं कन्धा पकड़कर (नहीं कहते कि) नहीं, तू ऐसा कर। ऐसा है नहीं, आहा..हा...! कहते हैं, कर्म कलंक... आहा..हा...! कर्म का कलंक है, मैल है। आठ कर्म... यहाँ सिद्ध है न ? इसलिए आठों ही कर्म कहे हैं। सिद्ध है तो सही न ? आठों ही कर्मरूपी कलंक के मैल को... आठ कर्म हैं न ? आठ-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, और आयुष्य। ऐसा मल, उसे जला दिया। '**डहेवि**' भाषा ऐसी है। उन्होंने नाश किया, वह तो जला दिया - ऐसा कहते हैं, भाई ! आहा..हा...! नाश किया ऐसा हलका शब्द नहीं डाला, जला दिया, राख कर दिया। अर्थात् ? कर्मरूप जो पर्याय थी, उसकी पर्याय दूसरे जड़, दूसरे पुद्गलरूप हुई। अकर्मरूप पर्याय हो गयी। जला डालने का अर्थ कहीं दूसरी चीज नहीं, परमाणु जल नहीं जाते।

यह आत्मा अपने स्वरूप के अन्तरदृष्टि और ध्यान में स्थिर हुआ, सिद्ध भगवान का आत्मा... तब उन्होंने कर्म के कलंक की, आठ कर्म की जो पर्याय थी, उसका व्यय हो गया, तब उन्होंने जलाया-ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा...! कर्म तो उस समय टलने की योग्यता से ही टले हैं; आत्मा कहीं उन्हें टाले और कर्म को जलाये-ऐसा कभी (नहीं है)। वे तो जड़ हैं। जड़ का कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है परन्तु यहाँ तो यह कहा है कि जिस विकार के संग में, संग था, तब कर्म का निमित्तपने आवरण था, वह संग छूटा, इसलिए आवरण की अवस्था में दूसरी दशा हो गयी। उसे यहाँ कर्म कलंक को जलाया-ऐसा कहा जाता है। '**डहेवि**' मूल में से जला दिया-ऐसा कहते हैं। फिर से कर्म पर्यायरूप हो-(ऐसा) अब है नहीं। फिर? दो पद हुए।

'**परु अप्पा लब्धउ**', '**परु अप्पा लब्धउ**'-क्या प्राप्त हुआ ? भगवान आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा था, शक्ति के सत्व के स्वभाव के सामर्थ्यरूप से परमात्मा ही था। उसका ध्यान करके परु अर्थात् वर्तमान पर्याय में उत्कृष्टरूप से '**परमात्म पद को पा लिया।**' पर्याय में-अवस्था में... जो स्वरूप अन्तर में (पूर्ण था, उसे) पर्याय में प्रगट पूर्ण प्राप्त किया अर्थात् पर्याय में पहले शुद्धपद प्रगट था-ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वस्तु तो शुद्ध थी, वस्तु तो निज आनन्द और शुद्ध सत्ता, सत्त्व सम्पूर्ण सामर्थ्य वही है परन्तु उसकी दशा का ध्यान करने पर, दशा में ध्यान करने पर उसकी दशा में, वर्तमान अवस्था में-हालत में '**परु लब्धउ अप्पा**' परमात्मरूपी दशा को उस आत्मा ने प्राप्त किया। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**परु अप्पा लब्धउ**' '**परु**' अर्थात् उत्कृष्ट अर्थात् ? बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के तीन प्रकार हैं। उसमें यह '**परु**' अर्थात् उत्कृष्ट जो

परमात्म पद है, उसे प्राप्त किया। बहिरात्मा में तो पुण्य और पाप, शरीर, वाणी को अपना माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। जो उसकी वस्तु में नहीं है, उसकी चीज में नहीं है, और बाह्य में पुण्य और पाप के भाव तथा उसके बन्धन व फल, उसे अपना माने उसे बहिरात्मा-बहिर्दृष्टि-बाह्य आत्माको माननेवाला-ऐसे मूढ़ को बहिरात्मा कहते हैं।

अन्तर में आनन्द और शुद्ध हूँ-ऐसे पूर्णानन्द की जिसे प्रतीति हुई परन्तु पर्याय में अभी पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई, यह ऐसे जीव को पूर्ण स्वरूप शक्ति से पूर्ण हूँ-ऐसी प्रतीत अनुभव हुआ परन्तु पर्याय में-अवस्था में पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ तो कहते हैं, '**परु अप्पा लब्धउ**' अब अन्तरात्मा भी नहीं। अन्तर के स्वरूप की एकाग्रता द्वारा जो उत्कृष्ट परमात्म पद को प्राप्त हुआ, उसका अर्थ-वह परमात्म पद की पर्याय नयी प्रगट हुई है। वह पर्याय अनादि की थी, अनादि की सिद्ध समान उसकी दशा थी, पर्याय में सिद्ध दशा थी, ऐसा नहीं है; वस्तु में सिद्ध शक्ति थी। समझ में आया ? उसे प्राप्त किया।

'**ते परमप्प णवेवि**' ऐसे परमात्मा को, उसके उपाय द्वारा जिन्होंने निजपद की पूर्णदशा प्राप्त की-ऐसे परमात्मा को पहचान कर, खयाल में लेकर, अपने लक्ष्य में लेकर ऐसे '**सिद्ध परमात्माओंको नमस्कार करता हूँ।**' लो, यह पहला मांगलिक किया। 'समयसार'में भी यह लिया है, वहाँ भी सिद्ध को ही पहले लिया है। यहाँ सिद्ध को पहले लिया। श्रोताओं को कहते हैं, इन सिद्ध को नमस्कार करते ही कहते हैं कि भाई ! सिद्ध समान की पर्याय प्रगट हुई, उन्हें नमस्कार कौन कर सकात है ? समझ में आया ? वह जिसके हृदय में, ज्ञान की दशा में सिद्धपद को स्थापित कर सके और विकारादि मुझ में नहीं है, मैं पूर्णानन्द सिद्ध समान शक्ति हूँ-ऐसे श्रद्धा-ज्ञान में सिद्ध को स्थापित करे, वह सिद्ध को वास्तविक नमस्कार कर सकता है। समझ में आया ?

नमस्कार अर्थात् ? नमना है, उनकी दशा कैसी होती है ?-उसकी प्रतीति न हो तो नमेगा किसे ? समझ में आया ? इसलिए वहाँ तो ऐसा कहा है न ? यहाँ भी वही शैली है। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं '**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' मैं सर्व सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। अर्थात् ? अभी तक जितने सिद्ध भगवान हुए, उन सबको मेरी ज्ञानदशा में, मेरी वर्तमान ज्ञानकला में स्थापित करता हूँ, वन्दन करता हूँ अर्थात् आदर करता हूँ। अभी तक अनन्त सिद्ध हुए, अनादि से होते आ रहे हैं, छह महीने आठ समय में छह सौ आठ मुक्त पद को प्राप्त करते हैं-ऐसा केवलज्ञानी भगवानने देखा है। छह महीना और आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति प्राप्त करते हैं-ऐसे आत्माएँ अनन्त काल से सिद्ध समूह इकट्ठे हुए हैं। सिद्ध समूह यह आता है न ? सिद्ध समूहम्-ऐसा कहीं आता है, पूजा में आता है। समझ में आया ?

उन बड़े सिद्धों का बड़ा नगर वहाँ भरा हुआ है, वहाँ सिद्धों की बस्ती है। आहा..हा...! ऊपर जहाँ सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ सब सिद्ध की बस्ती बिराजती है, अनन्त सिद्ध, अनन्त सिद्ध विराजते हैं परन्तु सबकी सत्ता भिन्न है। ऐसे अनन्त सिद्ध उनकी नगरी में विराजमान हैं। कहते हैं, ऐसे (सिद्ध भगवान को) यहाँ मैं, मेरे वर्तमान ज्ञान में, ऊर्ध्व में रहे होने पर भी, उन्हें यहाँ नीचे उतारता हूँ। प्रभु ! पधारो, पधारो मेरे आँगन में। आहा..हा...!

शेष अंश अगले अंकमें...

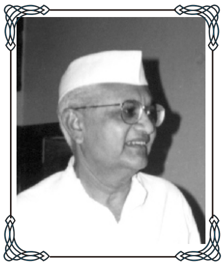

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथ के बोल-२५८ पर हुआ भाववाही प्रवचन

ता.३०-०५-१९८३, प्रवचन नं.११५ (विषय : विधि)

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अतिसूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बीचकी सन्धिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। खयालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है। सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यक्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुनकर विचार करें, और पीछे प्रयत्न करें। २५८

यहाँ एक भेदज्ञान अनन्त रोग की औषधी है। अनन्त रोग की औषधी भेदज्ञान है। उपादानरूप से भेदज्ञान है। उसे 'श्रीमद्‌जी'ने 'विचार औषध ज्ञान' ज्ञान को औषधी ली है न ? वह भेदज्ञान है। विचार करके भेद करना, ज्ञान करना, भेदज्ञान करना वह उसकी औषधी है।

मुमुक्षु :- शरीर का रोग हो या रागरोग हो, किसी भी प्रकार का..

पूज्य भाईश्री :- शरीर का रोग हो वह आत्मा का रोग तो है नहीं। जिसे भिन्न पड़ना है उसे वह कुछ...

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- नहीं। शरीर के रोग का प्रश्न नहीं है। यह मिथ्यात्व के रोग का प्रश्न है। प्रश्न तो यह है कि यह जो रोग है वह रोग मुझे हुआ है, ऐसा तो जानना चाहिये न ? ऐसा प्रश्न है। उनका प्रश्न यह है कि रोग मुझे हुआ है, ऐसा जानना चाहिये न ? रोग मुझे हुआ है ऐसा जानना चाहिये या रोग मुझे नहीं हुआ है ऐसा जानना ? भेदज्ञान कैसे करना ? यह प्रश्न है। मूल स्वरूप में अहंपना करनेपर मेरे मूल स्वरूप में तो रोग नहीं है। यदि मेरे मूल स्वरूप में रोग नहीं है, ऐसे मेरे मूल स्वरूप को मैं सावधानी से ग्रहण करुँ कि मैं ऐसा ही हूँ। श्रद्धा से, ज्ञान से और आचरण से, तो जो ग्रहन करनेवाली अवस्था है उसमें रोग नहीं रहेगा। इसप्रकार उस रोगिष्ट वृत्ति का यह उपाय है। ऐसा कहना है। परन्तु स्वरूप को भूलकर रोग मुझे हुआ है.. रोग मुझे हुआ है.. रोग मुझे हुआ है... इसप्रकार रोग की पकड़ करने जायेगा तो रोग से भिन्न होना है वह प्रक्रिया कब होगी ? इसीलिये तो वह मात्र जानने का विषय रह जाता है। जानकर फिर वह निषेध के खाते में जाता है। और जो विधि करनी है, विधि-निषेध होकर पूरी प्रक्रिया है न ? जो विधि करनी है वह स्वरूप का आदर, स्वरूप की रुचि, स्वरूप का बहुमान, स्वरूप की महिमा, स्वरूप का स्वसंवेदनज्ञान, स्वरूप का अभेद श्रद्धान इत्यादि गुण सर्व गुण स्वरूप में निमग्न हो, यह उसकी विधि है। और उस विभाव से भिन्न पड़ना, वह उसका निषेध है। इसप्रकार विधि-निषेध होकर पूरी प्रक्रिया है।

मुमुक्षु :- चेतनागुणमयता स्वरूप देखना पड़े ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसे ग्रहण करने में उसकी अस्ति है। चेतनास्वरूप स्वयं हयात है। स्वयं की अस्ति चेतनामयतास्वरूप है। वह चेतनास्वभाव जितना जैसा है उतना यदि ज्ञान में आये, उतनी सामर्थ्य ज्ञान में आये तो

वह ज्ञान महिमावंत स्वरूप के प्रति ढले बिना रहे नहीं। उसका जो ढलना है वह उसे रागादि प्रति और पर प्रति की ढलन को छोड़ाती है। क्योंकि दो दिशा में एकसाथ अवस्था नहीं ढल सकती।

मुमुक्षु :- सावधानी का अर्थ क्या ? सावधानी माने ?

पूज्य भाईश्री :- सावधानी अर्थात् जागृति। यही मैं हूँ, मैं ऐसा ही हूँ ऐसी जो जागृति। सावधानी के अर्थ का विचार के बजाय उसका Practical भाव विचारने जैसा है। आँख को चोट पहुँचे ऐसा कोई Accident का प्रकार बन जाय तो विकल्प करने रुकता है कि आँख बन्द रखुँ या खुली रखुँ ? अभी बन्द रखुँ या खुली रखुँ ? एक Second में आँखें बन्द कर लेता है। विकल्पपूर्वक कार्य करता हो तो तो विकल्प करने का वहाँ उसे अवकाश नहीं है। उतना समय नहीं है। ऐसा होने का कारण क्या ? कि ऐसा होने का कारण उसकी शरीर प्रति की सावधानी है। सावधानी कितनी त्वरा से काम करती है और सावधानी कितनी ज़ोर से काम करती है, वह देह में आत्मबुद्धि करके देह की सावधानी करता है उससे वह विचारने जैसा है अथवा समझने जैसा है। वह उसका Practical ज्ञान है। सावधानी करता है या नहीं ?

मुमुक्षु :- वह तो सहज हो जाती है।

पूज्य भाईश्री :- सहज होने का कारण उसका उस ओर का अभ्यास है। अभ्यास से सहज हुआ है। इस ओर सहज नहीं होता, ऐसी कोई दलील करे तो अभ्यास नहीं है ऐसा है। अभ्यास चालू कर। यदि तुम्हारी भावना मोक्षमार्ग में प्रवेश करने की है अथवा मोक्ष प्राप्ति की है तो तुम्हे प्रतिक्षण, प्रसंग-प्रसंग पर इस कार्य का अभ्यास चालू करना चाहिये।

देखिये ! अब, 'पूज्य बहिनश्री' के साथ यह चर्चा कभी-कभार होती है। Mark करने जैसा विषय है। अभ्यास करना चाहिये, यह शब्द बार-बार आता है। खयाल है ? नहीं हो तो अब यह खयाल करने जैसा है, जब-जब बात होती है तब, अन्दर में अभ्यास करना चाहिये, अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास यानी इस अभ्यास की बात है कि अन्दर में मैं चेतनागुणमयस्वरूप-गुण यानी स्वभाव, चेतनास्वभावमय हूँ, राग और परस्वरूप नहीं, इसप्रकार स्वभाव, विभाव का अन्दर में भेदज्ञान करने का अभ्यास-जुदा करने का प्रयत्नरूप अभ्यास, प्रयासरूप अभ्यास, पुरुषार्थरूप अभ्यास, यह अभ्यास करना चाहिये। यह बात बहुत बार आती है। वह इस अभ्यास की बात करते हैं। शास्त्र-अभ्यास की बात नहीं करते कि तुम शास्त्र अभ्यास करते रहो और उसका खूब अभ्यास करो। वह बात नहीं है। इस अभ्यास की बात है।

मुमुक्षु :- अन्दर का अभ्यास ?

पूज्य भाईश्री :- अन्दर का अभ्यास। भेदज्ञान का अभ्यास। यही एकमात्र उसका उपाय है, अन्य कोई उसका उपाय नहीं। और पूरे 'समयसार' में यह बात मुख्यरूप से कही है। यहाँ तो 'मोक्ष अधिकार' के १८१ कलश का (वचनामृत है)। 'मोक्ष अधिकार' में तो मोक्ष की-केवलज्ञान की पर्याय, यथाख्यात चारित्र की पर्याय, केवलदर्शन की पर्याय, क्षायिकसमकित की पर्याय, परमानन्द की पर्याय, ऐसा तो कोई विवरण किया नहीं। 'मोक्ष अधिकार' में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने और 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने मोक्षपर्याय का वर्णन नहीं किया है। ऐसी दशा प्रगट करने का जो मूल भेदज्ञान (है), वहाँ से अधिकार की शरूआत की है। पूरे अधिकार में उस विषय पर चलेगा। इसलिये 'समयसार' का विषय, Agenda का विषय ही इतना है।

पहचानने के लिये भी उसे बुद्धिगम्य भेदज्ञान करना, अनुभव करने के लिये भी बुद्धिगम्य भेदज्ञान करना। होता है उसे करना ऐसा कहते हैं। और आगे जो मोक्षमार्ग की अवस्था है, जितनी भी विकसीत अवस्थाएँ हैं, वह सब भेदज्ञानमय अवस्थाएँ हैं। भेदज्ञान का पुरुषार्थ सहजरूप से चालू रहता है, होता ही रहता है। उसे

रटकर, याद करके करना नहीं पड़ता। वह तो तीसरे वचनामृत में लिया। ज्ञानी को भेदज्ञान समय-समय पर याद करके करना नहीं पड़ता। क्योंकि वह (दशा) सहज हो गई है। जैसे यहाँ शरीर की सावधानी सहज हो गई, वैसे वहाँ आत्मा की सावधानी सहज होती है। परन्तु वह सहज होने के लिये उसकी Practice उसे अभी से शुरू करनी चाहिये। सर्व उदयकाल में भिन्न पड़ना चाहिये, भिन्न करने का अभ्यास करना चाहिये। भिन्न पड़ना चाहिये अर्थात् भिन्न करने का अभ्यास करना चाहिये। यह एक ही रीत है, अन्य कोई रीत नहीं है।

ऐसा करने के बाद क्या दिक्कत आती है, ऐसा करे और कोई दिक्कत प्रस्तुत करे तो उसका उपाय भी अनुभव से अनुभवी ज्ञानी कह सकते हैं। तुम्हे ऐसी तकलीफ होती है उसका कारण यह है, तुम्हे ऐसी तकलीफ होती है उसका कारण यह है। भेदज्ञान में तुम्हे सफलता नहीं मिलने में ऐसी तकलीफ होती है उसका कारण यह है। परंतु कार्य शुरू करे और उसे अन्दर में कोई तकलीफ-अडचन हो तो उसका उपाय हो सकता है। कार्य शुरू ही नहीं करे उसका विचार करना कहाँ रहता है ?

मुमुक्षु :- बुद्धिपूर्वक भेदज्ञान माने...

पूज्य भाईश्री :- बुद्धिपूर्वक अर्थात् बुद्धिगम्य यहाँ लिया है। हाँ, यहाँ बुद्धिपूर्वक करता है। सम्यग्दर्शन के पहले जो अभ्यास करता है तब तो सविकल्प दशा है। और शुद्धोपयोग के बाद मोक्षमार्गी जीव को भी बुद्धिगम्य भेदज्ञान होता है तब सविकल्प दशा है। क्योंकि बुद्धिगम्य होता है। उसमें बुद्धिपूर्वक इसलिये नहीं लेते कि वहाँ, ऐसा करना है, इसप्रकार याद करके नहीं करना पड़ता, विकल्प करके करना नहीं पड़ता। मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि को भेदज्ञान करने का विकल्प करके भेदज्ञान नहीं करना पड़ता। इसलिये उसे बुद्धिगम्य होता है ऐसा कहा। बुद्धि में खयाल में आता है। इसलिये उसे बुद्धि में-ज्ञान में बराबर पकड़ में आता है कि यह स्वभाव, यह विभाव, यह स्वभाव, यह विभाव। इसप्रकार बराबर बुद्धि में गम्य होता है-ज्ञान में गम्य होता है। ऐसे भेदज्ञान को, उसे बुद्धिगम्य भेदज्ञान पहले होता है, ऐसा कहने में आता है।

इसके पहले कोई प्रयास करता है उसमें भेदज्ञान सम्बन्धित भी विकल्प उठते हैं। भेदज्ञान करने का विकल्प उठे और उसमें यह ज्ञान, यह राग, इसप्रकार ज्ञान और राग सम्बन्धी का भी विकल्प चले। परन्तु वह विकल्प मात्र विकल्प ही नहीं है। उस विकल्प के साथ वहाँ अवलोकन भी है। अवलोकन पद्धति है वह अनुभव पद्धति है। इसलिये विचार के साथ अवलोकन करता है कि यह राग ज्ञान में आता है कि ज्ञान में जानने में आता है ? प्रतिबिम्बित होता है ? यह राग मुझे हो रहा है, ऐसा जो अनुभव है वह ज्ञान का अवलोकन करने से-मात्र ज्ञान का अवलोकन करने से, उसमें प्रतिबिम्बित होता है या उसमें आता है ? थोड़ा अवलोकन तो करूँ, जाँच तो करूँ। यह ठण्डा, गरम लगता है, अभी गरमी लगती है तो यह गरमी ज्ञान में आती है ? या मात्र वह प्रतिबिम्बित होती है ? वातावरण के परमाणुओं की अवस्था का प्रतिबिम्ब ज्ञान में उठता है और ज्ञान मात्र कोरा रहता है। इसप्रकार अवलोकन सहित जो विचार चलता है, वह बुद्धिपूर्वक भेदज्ञान का विचार है।

वह बारम्बार अपने ज्ञान को, मात्र ज्ञान को जाँच करता जाय, उसप्रकार ज्ञानभाव का परिचय करता जाय। क्योंकि अनुभवगोचर भाव है न ? ज्ञान तो अनुभवगोचर भाव है। इसलिये अपने अनुभव की जाँच करता जाय, अपने अनुभव की जाँच करता जाय तो इसप्रकार परिचय करते-करते उस परिचय में उसे अखण्ड परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव पहचाननें आता है, परिचीत होता है। परिचय से पहचान होती है। जब उसे अपने मूल परिपूर्ण स्वरूप की पहचान होती है कि यह तो बेहद ज्ञानस्वभाव है। अकेला ज्ञानस्वभाव है और उसे किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्ता-कर्म सम्बन्ध, ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध यह सब कहनेमात्र सम्बन्ध है, व्यवहार सम्बन्ध है। वास्तव में ज्ञान अकेला है। स्वभाव से ज्ञान भिन्न है,

स्वभाव से ज्ञान निर्लेप है, स्वभाव से ज्ञान निरपेक्ष है। (इसप्रकार) उसे अनन्त स्वभाव की पहचान होती है, तब परिणाम में मानो कोई नई चेतना प्रगट हुई हो, ऐसा फेरफार उत्पन्न होता है।

जैसे अपनी अनादि की दरिद्रता टलने में उसका निधान घर के अन्दर देख लिया। अभी उपभोग नहीं किया। प्रथम देखा कि अनन्त निधान मेरे घर में, आँगन में, मेरे Possession में, मेरे कब्जे में पड़ा है। उसकी दरिद्रता पहली क्षण में ही मिट जाती है। फिर घर बनाये, Furniture बनवाये, कपड़े सिलवाये... वह सब होने में भले ही देर लगती है, फिर भी वह होने से पहले उसकी दरिद्रता मिट गई है। उसे गरीबाई नहीं रही। सीधी बात है कि नहीं ?

इसप्रकार यहाँ पहचान होने में अपना अनन्त गुणनिधान, उसका पता चलता है। वह भी भेदज्ञान का प्रयास करने में, बुद्धिपूर्वक भेदज्ञान करनेपर पहचान में आता है। अन्य कोई प्रकार से पहचानने का प्रश्न नहीं है। यह उसकी खोज का विषय बन जाता है। और वह भेदज्ञान बुद्धिपूर्वक करने पर उसे खयाल आता है कि, अरे..! इस ज्ञान को-मात्रज्ञान को देखने पर वह निराकूल है, उसमें तो दुःख नहीं है। यह राग का जो अंश, विभाव का अंश जो पर निमित्त के साथ उछलता है, ऊपर-नीचे होता है, नीचे गिरता है-यह तो दुःखभाव है। जब यह दुःख, दुःखरूप लगने लगता है तब उस दुःख का वास्तव में निषेध चालू होता है। तब उसमें थोड़ी सहजता आती है।

जैसे अग्नि पर हाथ लगते ही फटाक से हाथ उठा लेता है। जलता हुआ कोयला, कोयले का .. पड़ा हो, गलती से हाथ लग जाय तो फटाक से उठा लेता है। कि विचार करने को रुकता है रखुँ या नहीं रखुँ ? रखुँ या नहीं रखँ ? अन्धेरे में कोयला पड़ा हो, जलता हो। ऐसा लगे कि कोई चमकीलि चीज़ पड़ी है। एक भ्रम हो। कोई क़िमती चीज़ पड़ी होगी। चलो, देखुँ तो सही। अन्धेरे में यह चमक-चमक क्या हो रहा है ? पकड़े और गर्म लगने पर पकड़ने के साथ ही छोड़ दे। या विचार करने रुकता है ? विचार करने के लिये नहीं रुकता। वह जैसे तुरन्त ही छोड़ता है, वैसे दुःख का विषय ऐसा है।

जिस भाव में उसे दुःख लगता है, जो भाव दुःखदायक है उस भाव से हटने का तत्क्षण बनता है। तत्क्षण वहाँ से हटने का भाव में एक रुख उत्पन्न होता है, यह नहीं, यह नहीं। भले ही उसकी पर्याय में वह भाव है। वह राग रोग है और रोग उसकी पर्याय में है लेकिन दुःखरूप है। इसलिये उस दुःख से हटने का भाव सहज होता है। नहीं तो यहाँ प्रश्न क्यों रहता है ? कि रागरूपी रोग की अवस्था तो (राग) मुझे हुआ। रोग तो मुझे हुआ है। मुझे हुआ है और मुझे नहीं हुआ, ऐसा प्रश्न था न ? रागरूप रोग मुझे हुआ है और मुझे नहीं हुआ, ऐसा मानना ? परन्तु रागरूपी रोग मुझे हुआ है ऐसा विचार करनेवाले को एक प्रश्न करते हैं कि उसका दुःख है ? रागरूपी रोग का दुःख है ? रोग तो दुःखदायी है, पीडाकारक है। उसकी पीडा और उसका दुःख है ? यदि उसका दुःख अनुभव में आये तो रोग मुझे हुआ है कि मुझे नहीं हुआ, यह प्रश्न नहीं रहेगा।

जैसे जीव विचार में आत्मा की कल्पना करता है, उसप्रकार मिथ्यात्व की और यह यह सब जब तक विचार से कल्पना करता है तब तक उसका उपाय नहीं मिलता। प्रश्न कहाँ से उठा ? कि यह राग का रोग मेरी अवस्था में हुआ है उसका क्या ? मुझे हुआ है ऐसा नहीं मानना ? लेकिन वह ऐसी विचारणा का विषय नहीं है। उस रोग का दुःख लगता है कि नहीं, उसका विषय है। फिर उसका उपाय खोजने नहीं जाना पड़ेगा। यदि राग का, मिथ्यात्व का दुःख लगेगा तो उसका उपाय खोजने नहीं जाना पड़ेगा। वहाँ से एकदम हटेगा। इसप्रकार यहाँ विचार करता है और दुःख नहीं लगता तब तक विचार में भी उसका उपाय नहीं मिलेगा, ऐसा कहना है। विचार से उसका उपाय नहीं मिलेगा। कदाचित् कोई Theory

सिखा दे कि ऐसा विचार करना... ऐसा विचार करना.. ऐसा विचार करना.. उसका उपाय उसे नहीं मिलेगा। मात्र विचार से समझ लेगा कि, ठीक है, बात तो बराबर लगती है, बात तो बराबर लगती है। उसमें उसे लाभ नहीं होगा।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि ज्ञान मात्र बातें करने का विषय नहीं है, अमल करने का विषय है। यहाँ कहते हैं कि, उस बात में तथ्य है, वह बात सत्य है। यहाँ तो ज्ञान ही अमलीकरण से शुरू होता है। यहाँ अमल नहीं करने का सवाल ही नहीं। ज्ञान क्या काम करता है ? कि दुःख को दुःखरूप जानकर दुःख से हटने के भाव में आता है और अपने सुखस्वभाव को ग्रहण करने के भाव में आता है। यह ज्ञान का आचरण है। ज्ञान का मात्र जानकारी प्राप्त करने तक का सिमीत कार्य नहीं है, अपितु यह ज्ञान का साक्षात् आचरण है। वह उसे जो बोध प्राप्त हुआ उसका वास्तव में अमल है। वह स्वाकार्य की शुरूआत करता है। ऐसे ज्ञान को, ऐसी समझ को समझ कहने में आती है और ज्ञान कहा जाता है। बाकी सब बातें हैं कि जिससे कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। बहुत Practical विषय है। मूल विषय ही अनुभव का है।

अब क्या कहते हैं ? कि '**सम्यक्दृष्टि का ज्ञान...**' सम्यग्दृष्टि के ज्ञान से समझाते हैं क्योंकि वह स्पष्ट है। राग और स्वभाव दोनों की सन्धि को तोड़ता है। किसप्रकार तोड़ता है ? कि दोनों के बीच भिन्नता है ऐसा ज्ञान में जानता है, वह उन दोनों के बीच प्रवेश है। यह ज्ञान और यह राग, इसप्रकार दोनों की जाति भिन्न जानने में आये, वह उन दोनों के बीच प्रवेश करने जैसी बात है। एकसाथ एक पर्याय को कितने पहलू हैं ? कि एक पर्याय का एक पहलू ऐसा है कि यह ज्ञान मैं हूँ, ऐसा उसने ग्रहण किया है। तब यह ज्ञान और यह राग, एसे स्वभाव और विभाव भिन्न हुए हैं। तो जो ज्ञान अन्तर्मुख हुआ और जिस ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर ऐसा स्वभाव मैं हूँ, इसप्रकार चेतनास्वभाव को हूँपने से ग्रहण किया, उसने ज्ञान और विभाव को भिन्न किया। अर्थात् एक पर्याय ने दोनों के बीच भिन्नता करनेरूप छैनी का कार्य किया। छैनी की उपमा इसलिये देते हैं कि एक तो वह सूक्ष्म धारवाली है। और दूसरा, उससे ज़ोर से प्रहार किया जाता है। हथियार छोटा है लेकिन उस पर प्रहार ज़ोर से किया जाता है। इसप्रकार यहाँ ज्ञान सूक्ष्म होकर ज़ोर से कार्य करता है, बल से कार्य करता है। ज्ञान मात्र ऊपर-ऊपर से जानता है कि यह राग, यह ज्ञान ऐसे नहीं। यह मैं, इसप्रकार बल से कार्य करता है। और विभाव मैं नहीं, ऐसे ज़ोर से (वहाँ से) खिसकता है। इसलिये उसे छैनी ऐसा यहाँ इस अधिकार में नाम दिया गया है। उसे प्रज्ञाछैनी कहा। छेद करनेवाली। छेद-छेद शब्दप्रयोग किया है न ?

'**खयाल में आ सके इसप्रकार (प्रथम) राग और स्वभाव दोनों को छेदता है।**' छेदता है शब्द लिया है। यह छेदना है, उसमें ज़ोर लेना है, बल लेना है। क्योंकि वहाँ आत्मा के वीर्यगुण का परिणमन भी है। इसलिये पुरुषार्थ है वह वहाँ सतेज होकर कार्य करता है। उस पुरुषार्थ का सतेज होकर कार्य करना उसे ज़ोर से-बल से कार्य किया, ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु :- सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म...

पूज्य भाईश्री :- सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ना ?

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- प्रयोजन के विषय में कार्य करनेवाला ज्ञान अतिसूक्ष्म है। प्रयोजन के विषय में कार्य करनेवाला ज्ञान अतिसूक्ष्म है। हमने तो बहुत दृष्टान्त (देखे हैं)। हमारे मित्र थे। साथ पढ़ते थे। उसप्रकार .. था। उसके पिताश्री थे उनका चहेरा देखो तो ऐसा लगे कि, देखने से ही ऐसा लगे कि बहुत कम बुद्धिवाले इन्सान हैं। किसी रिश्तेदार के हिसाब से मिल में काम करते थे। इस महाराष्ट्र मील में (एक भाई के) रिश्तेदार

थे। उन्हें जो काम बोले वह किया करते थे। Clarical work या ऐसे Routine work किया करे। वह खुद ऐसा मानते थे कि अपने में बुद्धि कम है। दूसरे की भाँति कहीं और जगह माथा नहीं लगा सकते। वक्त से Office जाना, मील में जाना और घर आना और कुटुम्ब-परिवार... एक दिन हमारे यहाँ गेहूँ की बोरी लेने आये। उन दिनों में अनाज का व्यापार करते थे। दो बोरी गेहूँ भेजी, बाद में हिसाब करने आये। तब कहा कि यह आप का बिल है उसमें पैसे कम लीजिये। मैंने कहा कि, भाई ! आप रिश्तेदार हो इसलिये पहले ही आप के पैसे वाजिब कम ही लिये हैं। (उन्होंने कहा), मुझे कोई ज्यादा बुद्धि नहीं है, मैं आप को समझा नहीं सककता। उन्होंने क्या कहा ? मेरे में ऐसी बुद्धि नहीं है कि मैं आप को अधिक समझा सकूं। लेकिन पैसे कम लीजिये। ठीक ! हो गई बात. वहाँ बुद्धि आ गई। क्या कहना है ?

जो ऐसा मानता है कि मुझे बुद्धि कम है, उसे भी प्रयोजन के विषय में तो बुद्धि सूक्ष्मतापूर्वक कार्य करती ही है। कैसी सूक्ष्मता से कार्य करती है ? कि मेरी बुद्धि कम है, ऐसा समझकर आप पैसे कम लीजिये। ठीक ! यह बात उसने वहाँ प्रयोजन में लागू कर दी। पैसे बचाने है। पैसे का लाभ करना है, फायदा करना है तो उसने उस वर्तमान स्थिति का लाभ भी लिया, वह बुद्धि की कितनी सूक्ष्मता ! इतना विचार आया कि दिखाव ऐसा है। भले बुद्धि थोडी कम है लेकिन प्रयोजन में तो किसीकी बुद्धि कम नहीं है। जहाँ अपने लाभ-नुकसान का प्रयोजन है वहाँ बुद्धि बराबर काम करती है। उसमें कोई कम काम करती है ऐसा नहीं होता।

इसप्रकार यहाँ मोक्ष का, निजहित का प्रयोजन है, वहाँ अन्दर में अनेक गड़बड़वाले अहित करनेवाले परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे परिणमन से हटना है, ऐसे परिणाम का नाश करना है, ऐसा जिसका प्रयोजन है उसे बहुत सूक्ष्मता से उसका ज्ञान कार्य करता है। बहुत सूक्ष्मता से वह ज्ञान कार्य करता है। वह प्रत्येक विभाव को उसके अनेक पहलूओं से पहचानता है। फिर परिचय बहुत होता है। अन्तर अवलोकन का जो अभ्यास है, उस अवलोकन के अभ्यास में परिचय बढ़ता है। अपने ही भावों का परिचय बढ़ता है। उसमें कौन-कौन से भाव किसप्रकार उत्पन्न हुए ? वह भाव उत्पन्न होने में उसने अवलम्बित विषय को कितनी क़ीमत दी है ? वह क़ीमत देने में कहाँ भ्रमणा हुई है ? भ्रमभाव क्या है ? उस क़ीमत में रस कितना है ? वह रस वेदन में कितना आया ? कितना आगे बढ़ा ? उसे बहुत ही सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. बहुत जानने मिलता है। यह सब उसकी सूक्ष्मता के प्रकार हैं।

एक तिर्यंच पाँचवें गुणस्थान पहुँचता है। जिसे मन है लेकिन मन सहित अपने भावों को व्यक्त करने की स्पष्ट वाचा नहीं है। अक्षरात्मक नहीं है। अनक्षरात्मक थोड़ा बोलते हैं। जिसकी जैसी आवाज़ है वैसा। लेकिन वह तो वेदना होती है तब बोलते हैं। भूख की वेदना हो, कोई मारे, या बहुत हर्ष हो तब। तीव्र परिणाम हो तब। वह भी किसीको समझ में नहीं आता। इसका जितना क्षयोपशम कम है, विचार व्यक्त करने का वचनयोग नहीं है इतने पुण्य हिन है। फिर भी वह पंचम गुणस्थान में आरूढ़ हो सकते हैं। तो फिर तुम तो तिर्यंच से भी (अधिक बुद्धिमान) मनुष्य हो। मुनिदशा अंगीकार करने की तुझ में वर्तमान प्रगट शक्ति है। क्या ? प्रगट शक्ति है। केवलज्ञान करने की प्रगट शक्ति नहीं है, अन्तर शक्ति है लेकिन प्रगट शक्ति नहीं है। मुनिदशा की तो प्रगट शक्ति है। अब तुम ऐसा कहते हो कि यह सब बहुत सूक्ष्म-सूक्ष्म समझ में नहीं आता और हमें सम्यग्दर्शन कैसे हो ?

यह तो 'रांडी रोवे, मांडी रोवे पण सात भरथावाली रोवे' (एक गुजराती कहावत) उसके जैसी बात है। 'श्रीमद्‌जी'ने एक दृष्टान्त दिया है। यह लौकिक दृष्टान्त है

और थोड़ा आसान है। अर्थात् स्त्री विधवा हो जाय तो वह रोये और किसी का पति ठीक न हो तो वह रोती है, लेकिन सात-सात पति हो वह रोये तो क्या कहना ? वैसे तुझे तो इतनी अनुकुलता है। ऐसा मनुष्यपना, विचारशक्ति, दूसरा-तीसरा और तुम कहते हो कि सम्यग्दर्शन न हो, सम्यग्दर्शन न हो। यह सब तो कठिन.. बहुत कठिन.. बहुत कठिन.. यह बात ठीक नहीं है। यह अरुचीवाली बात है। अपने कार्य की अरुचि को वह प्रसिद्ध करता है।

प्रमादमात्र को दूर करके, बराबर जागृति लाकर उसे कार्य का प्रारम्भ कर देना चाहिये। फिर तो आसान है। एकबार तैयारी में आये, अपना काम करने के मुड में आये, फिर तो बहुत आसान है। फिर इतना कठिन नहीं है। लेकिन पहले से ही दरवाजा बन्द करके कडी मार देता है। हम ठहरे साधारण, हमें पूरा समझ में आये नहीं, हमे उतना सूक्ष्म समझ में आता नहीं, यह तो बहुत सूक्ष्म है, ऐसी सब बातें हैं। हमें खयाल में नहीं आता, हमें समझ में नहीं आता, समझ में नहीं आता, क्या करना ? यह बात इसप्रकार लेने जैसी नहीं है।

'खयाल में आ सके इसप्रकार (प्रथम) राग और स्वभाव दोनों को छेदता है।' उसका उसे अन्दर का प्रयत्न करना चाहिये। पुरुषार्थ का प्रारम्भ करना चाहिये, जागृति में आना चाहिये तो यह कार्य अवश्य हो ऐसा है। **'बुद्धिगम्य छेदन यानी कि खयाल में आ सके इस प्रकार दोनों में भिन्नता करता है।'** बुद्धिगम्य छेद करता है उसका अर्थ इतना है कि स्वयं को खयाल में आता है कि यह ज्ञानस्वभाव अवस्था में उत्पन्न हो रहे रागादि भाव से भिन्नरूप से, हूँपने से अनुभव में आता है। और मैं जैसा हूँ वैसा अनुभव में आनेपर, अनुभव में आनेवाला ऐसा मैं रागरूप होता नहीं। जैसा मैं अनुभव में आता हूँ, वैसा मैं रागरूप होता नहीं। लेकिन जैसा राग होता है वैसा मुझे उसका ज्ञान होता है। लेकिन मैं उस रूप नहीं होता। इसप्रकार अन्दर में स्वयं खयाल में आये उसप्रकार से भिन्न अनुभव करता है। भिन्न पड़ता है यानी भिन्न करता है अर्थात् भिन्न अनुभव में आता है, ऐसे लेना चाहिये। ये शब्द मूल में हैं। 'कलशटीका' है न ? उसमें मूल में यह बात है। बुद्धिगम्य का विषय मूल में लिया है। बन्ध में गिरती है, दोनों की सन्धि में पड़ती है। उस पर 'राजमलजी' ने विवरण किया है। '**बन्धे निपतति**' संस्कृत शब्द आचार्यदेव का इतना है।

'ज्ञानछैनी के पैठने का स्थान, उसमें ज्ञानछैनी पैठती है।' ज्ञानछैनी का पैठने का स्थान उसमें ज्ञानछैनी पैठती है। **'पैठी हुई छेदकर भिन्न-भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी ? ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होनेपर, मिथ्यात्व कर्म का नाश होनेपर, शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अत्यन्त पैठन समर्थ है।'** शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने में, पैठने में अत्यन्त समर्थ है। अर्थात् इतनी शक्तिशाली है।

'उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है...' बस, यहाँ से 'गुरुदेव' का यह प्रवचन चलता है। **'उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है तथापि जीव-कर्म की है जो भीतर में सन्धि, उसमें प्रवेश करने पर प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर दो करता है।'** बुद्धिगोचर छेदकर दो करता है। बुद्धिगम्यरूप से छेद करता है यह बात मूल में 'राजमलजी'ने ली है। और अनुभवी को भी यह खयाल में आता है कि इसप्रकार यह ज्ञान है सो मैं हूँ, ऐसा अनुभव में आता है तब अनुभव में आनेवाला ऐसा मैं, वीतरागस्वभावी ऐसा मैं, चेतनास्वभावी ऐसा मैं रागरूप होता नहीं। राग जानने में आता है। लेकिन मैं रागरूप होता नहीं। इसप्रकार अन्दर में भेदज्ञानरूप बुद्धिगम्य अनुभव होता है। अनुभव यानी खयाल में आये ऐसा भेदज्ञान होता है। यहाँ इतनी बात करनी है। बुद्धिगम्य करके उसे बुद्धि में समझाना है कि इसप्रकार भेदज्ञान किया जा सकता है। इतनी बात है। यहाँ तक रखते हैं...

'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से 'निश्चय व्यवहार तथा ज्ञाता-दृष्टापना (भेदज्ञान)' विषयक वचनामृत

निश्चय व्यवहार

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने से संक्षेप में परिणाम मात्र (जो कि व्यवहारनय का विषय है) अभूतार्थ है - ऐसा कहा है; चाहे तो परिणाम अशुभ हो, शुभ हो या शुद्ध हो। १७.

❖

शास्त्र में व्यवहार की कितनी बातें जीव स्वच्छंद में नहीं चढ़ जाए, इस हेतु से होती हैं। ....तो जीव उन बातों को पकड़कर, घोटाले में (एकांत में) चढ़ जाता है। (- व्यवहार को उपादेय मान लेता है।) २८.

❖

शास्त्रों में अनेक तरह के कथन आते हैं तो अज्ञानी इनमें उलझ जाता है। लेकिन 'निश्चय की बात मुख्य करके, निमित्त का ज्ञान करने का है' यह भूल जाता है। क्योंकि अनादि से संग का अभ्यास है न ! इससे एक संग (अशुभ) छोड़कर, दूसरा संग (शुभको) पकड़ लेता है। १०७.

❖

यहाँ तो परिणाम मात्र को व्यवहार कहते हैं। मोक्ष और मोक्षमार्ग सब व्यवहार है। 'मैं तो अक्रिय ध्रुव तत्त्व हूँ।' १४९.

❖

अपने त्रिकाली ध्रुवगुरु को गुरु बनाकर जो शुद्धपर्याय प्रकटी.... तो बाहर में उस वाच्य के बतानेवाले पर गुरु का आरोप किया जाता है। २३३.

❖

व्यवहार से जो-जो साधन कहने में आते हैं वे सभी (निश्चय से) एकांतरूप से बाधक हैं। ४०४.

❖

व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा से सत्य ही है। ४६३.

❖

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, जिसका सार यह है कि 'परिणाम मात्र अभूतार्थ है।' ५१८.

❖

द्रव्य, पर्याय का आलिंगन नहीं करता। पर्याय, द्रव्य का आलिंगन नहीं करती; कथंचित् व्यवहार से आलिंगन करती है। ५९८.

❖

गति में, व्यवहार से क्षेत्रांतर होता है; निश्चयसे अपना क्षेत्र कभी नहीं छूटता। ६१८.

❖

प्रश्न :- इस काल में सत्समागम लाभकारी है ?

उत्तर :- निश्चयस्वरूप अपनी आत्मा का समागम करना, वही सत्समागम है और यही लाभकारी है। व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्मात्मा का संग सत्समागम है। ६२०.

❖

निश्चयग्रंथ आत्मा है, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चयदेव भी आत्मा है। मूल बात इधर (अंतर) से है; बाद में बाहर के निमित्तों पर उपचार किया जाता है। ६३६.

ज्ञाता-दृष्टापना (भेदज्ञान)

(शुभाशुभ परिणाम होनेपर अन्तरंग स्थिति बताते हुए कहा :) अशुभपरिणामके कालमें इस ओरका (स्वसन्मुखताके पुरुषार्थका) झुकाव मन्द होता है। शुभपरिणामके कालमें इस ओरका थोडा ज्यादा (पुरुषार्थका) झुकाव होता है। (परन्तु दोनों प्रकारके परिणामोंके कालमें) दृष्टिका झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लडाईके कालमें बाहर लडाईकी क्रिया होती है और रागमें अशुभरागकी क्रिया होती है; पर 'मैं' तो मेरेमें ही अचल रहता हूँ, मेरेमें तो उस समय भी रागकी क्रियाका अभाव है। ३४.

❖

(भेदज्ञान का स्वरूप :) हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, वो तो सहजरूप से हो जाता है। ३६.

❖

ज्ञाता–दृष्टाका स्वरूप बताते हुए कहा : निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञातादृष्टा हो सकता है। सिर्फ ऐसे विकल्पसे ज्ञाता मानकर, होनेवाला था सो हुआ, – ऐसा मानकर –ऐसे समाधानमें (जो) सुख मानते हैं; वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खानेमें, सुअर विष्टा खानेमें, पतंगा दीपकमें सुख मानता है, – वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणामें ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं। १११.

❖

अपने द्रव्यमें एकत्व किए बिना, रागसे और शरीरसे भिन्नता नहीं हो सकती; भले ही 'भिन्न है.... भिन्न है' ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्यमें एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नहीं पडता; सहज ही भिन्नता रहती है। १५२.

❖

पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करे कि 'ये स्वतंत्र हैं' (तो यह यथार्थ नहीं) विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.

❖

प्रश्न :– राग ज्ञेय है, कि दुःखरूप है ?

उत्तर :– इधर (स्वभाव में) आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है, और वेदन में दुःखरूप लगता है। (एक ही समय में ज्ञान के 'जाननेरूप' व 'वेदनेरूप' दो प्रकार के धर्म प्रगट हैं। 'जाननेरूप धर्म' राग को मात्र ज्ञेयरूप जानकर ज्ञाताभाव से वर्तता है। 'वेदनेरूप धर्म' वेदन करता है, तब ज्ञाताभाव होनेपर भी राग की आकुलता का वेदन दुःखरूप लगता है। इस प्रकार ज्ञान के दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं, यही अनेकांत है।) ३३२.

❖

प्रश्न :– उपयोग स्व–सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर :– विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भितता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा–ज्ञान विकल्प के काल में (धारणा की माफिक) खाली पड़े हुए नहीं है, लेकिन परिणमनरूप हैं। ४५९.

❖

(राग को) ज्ञान का ज्ञेय....ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं, और लक्ष्य राग की ओर है तो वह, सच्चा ज्ञेय है ही नहीं। (यथार्थता में तो) ज्ञान का ज्ञेय तो अंदर में सहजरूप हो जाता है। लक्ष्य बाहर पड़ा हो और 'ज्ञान का ज्ञेय' ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है। वैसे ही 'योग्यता,' 'क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे तो मुझे खटकता है। ५७९.

❖

'सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय है,' 'अनुकूलता–प्रतिकूलता कुछ नहीं है' – इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में परसे लाभ–नुकसान की मान्यता क्यों ? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। (अभिप्राय और दृष्टि साथ वर्तते हैं और तदनुसार ही परिणमन का संचरण / विकास होता है, ऐसा सिद्धांत है।) ५९३.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

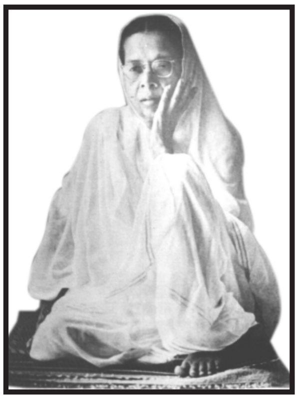

प्रश्न :- क्या वर्तमान कालमें महाविदेह क्षेत्रमें नहीं जा सकते?

समाधान :- वर्तमानमें तो नहीं जा सकते। परन्तु दो हजार वर्ष पूर्व यहाँ एक श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव हो गये; जिनके द्वारा रचे गये शास्त्र आज भी स्वानुभूति प्रगट होनेमें निमित्त हों ऐसे हैं। उनमें मूल मार्ग की प्ररूपणा है। उनके शास्त्रों पर पूज्य गुरुदेवने प्रवचन किये हैं। वे श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव बहुत वर्ष पूर्व महाविदेह क्षेत्रमें गये थे। उन आचार्यदेवके ध्यानमें भगवानके दर्शनकी ऐसी तीव्र अभिलाषा जागृत हुई कि अरे ! वर्तमानमें यहाँ साक्षात् भगवानके दर्शन नहीं है ! वे किसी लब्धिसे महाविदेहक्षेत्रमें गये अथवा तो देव आकर उन्हें वहाँ ले गये। वहाँ वे आठ दिन रहे और भगवानकी वाणीका साक्षात् श्रवण करके यहाँ भरतक्षेत्रमें लौट आये। ऐसे महासमर्थ मुनिश्वर कुन्दकुन्द आचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले महाविदेहक्षेत्रमें गये थे।

(स्वानुभूतिदर्शन-४४२)

❖

प्रश्न :- पहले देहादिसे भेदज्ञान करें या रागादिसे ?

समाधान :- सच्चा भेदज्ञा तो अंतरमें रागादिसे होता है। उसके क्रममें ऐसा कहा जाता है कि प्रथम शरीरसे भेदज्ञान करना और फिर रागादिसे। परन्तु वे दोनों एक साथ ही होते हैं। इस शरीरसे भेदज्ञान हो वह स्थूल है; अंतरमें रागादिकसे भेदज्ञान होना ही सच्चा-यथार्थ भेदज्ञान है। परन्तु अभी जहाँ स्थूलसे (शरीरादिसे) भेदज्ञान नहीं हुआ वहाँ रागादिसे भेदज्ञान कहाँसे हो ? इसलिये प्रथम स्थूलसे भेदज्ञान करते हैं कि यह जो शरीरादि दिखाई देते हैं वे तो जड़ हैं, वे कुछ जानते नहीं हैं, इसलिये प्रथम उनसे पृथक् हो, पश्चात् रागादिसे पृथक् कराते हैं। **(स्वानुभूतिदर्शन-४४३)**

प्रश्न :- रागादिको पृथक् करनेका प्रयोगात्मक प्रकार समझानेकी कृपा करें।

समाधान :- ज्ञानस्वभावको पहिचानना है। ज्ञानस्वभाव तो खयालमें आये ऐसा है। ज्ञानस्वभाव शान्तिसे भरपूर आनन्दमय है उसे लक्ष्यमें लेना। आनन्दका अनुभव भले ही नहीं है परन्तु उसे प्रतीतमें लेना। विचार करनेसे प्रतीतमें आ सकता है। आत्मा ज्ञानस्वभाव द्वारा प्रतीतमें लेने जैसा है। आत्मा कैसा है सो गुरुदेव बताते हैं, शास्त्रोंमें आता है-आत्मा ज्ञान-लक्षणसे लक्ष्यमें आता है। राग रागको नहीं जानता। उसे जाननेवाला भिन्न है। भिन्न ज्ञाता शाश्वत रहनेवाला है। रागकी समस्त पर्यायोंका व्यय हो जाता है, किन्तु जाननेवाला तो ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। ज्यों का त्यों रहनेवाला सो मैं हूँ, बचपनसे अभीतकके समस्त रागादि तो चले गये परन्तु जाननेवाला मौजूद है और वह जाननेवाला मैं हूँ। इसप्रकार ज्ञाताको भिन्न करना। जो-जो राग-विकल्प आयें उन्हें पृथक् करना। उसका अभ्यास उग्र हो तो क्षण-क्षण रागको पृथक् करनेका अभ्यास होता है। बुद्धिसे एकबार रागको पृथक् किया और फिर ज्यों का त्यों हो जाय तो वह उसके अभ्यासकी त्रुटि है। रागसे पृथक् होनेका अभ्यास प्रतिक्षण ज्यों का त्यों बनाये रखे तो सहजदशा होनेका अवसर आये। प्रथम तो ज्ञानसे प्रतीतमें आता है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४४४)**

❖

प्रश्न :– भेदज्ञान करना चाहिये। परन्तु भेदज्ञान करना किस प्रकार ? कि जिससे ध्यान प्रगट हो ?

समाधान :– उसे स्वयंको यथार्थ रुचि होनी चाहिये; तब भेदज्ञान होता है। अनन्त कालसे विकल्पों ही विकल्पोंमें चला जाता है, परन्तु उसकी रुचि यदि यथार्थ हो तो भेदज्ञान होता है। आत्माका ज्ञान यथार्थ करना चाहिये। अनादि-अनन्त मैं कौन हूँ ? मेरा स्वभाव क्या है ? उसमें जो अनेक प्रकारकी अवस्थायें होती हैं वे क्या हैं ? वह सब अपने को यथार्थ समझना चाहिये। उसकी यथार्थ रुचि होनी चाहिये। अंतरमेंसे ऐसी लगन लगे तो भेदज्ञान हो। दिन और रात आत्माके बिना चैन न आयें, मुझे अपने आत्माकी प्राप्ति कैसे हो ? मुझे स्वानुभूति–आत्माका कैसे साक्षात्कार हो ? ऐसी लगन अंतरसे जागृत हो तो भेदज्ञान हो। उसकी लगन लगनी चाहिये, फिर तो स्वभावमेंसे ही स्वभाव प्रगट होता है। वह सब जो विकल्प हैं वे तो विभाव हैं। विभावमेंसे स्वभाव नहीं आता, स्वभावमेंसे स्वभाव आता है। जैसे लोहेमेंसे लोहा ही बनता है, सोनेमेंसे सोना ही बनता है, वैसे ही स्वभावमेंसे स्वभाव प्रगटे और विभावमेंसे विभाव ही प्रगट होता है। इसलिये अपने स्वभावका ग्रहण करना और तदर्थ रुचि प्रगट करनी चाहिये। प्रथम तो उसकी रुचि करे, प्रतिक्षण उसका भेदज्ञान करे कि यह जो विभाव है सो मैं नहीं हूँ, मेरा चेतन स्वरूप भिन्न है। इस प्रकार बारम्बार अभ्यास करनेसे उसमें एकाग्रता होगी; अन्यथा बिना समझका ध्यान यथार्थमें जमता ही नहीं। **(स्वानुभूतिदर्शन–४४५)**

❖

प्रश्न :– आत्मसाक्षात्कार क्या है उसकी बातें तो सुनी हैं, परन्तु किंचित् झलक (अनुभूति) न हो तो उसमें मन कैसे प्रवृत्त होगा ? बाह्यमें तो अशान्ति लगती है।

समाधान :– इतना तो अपनेको महसूस होता है कि बाह्यमें कुछ भी सारभूत नहीं है, कहीं सुख दिखाई नहीं देता, यह सब चाहे जितना करो तब भी सन्तोष नहीं मिलता, तृप्ति नहीं होती। यहाँसे सुख मिलेगा, वहाँसे मिलेगा,–इसप्रकार जीव दर–दरकी ठोकरें खाता है किन्तु सन्तोष नहीं मिलता; उस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुखस्वरूप वस्तु और ही कुछ है जो अंतरमें है। बाह्यमें कहीं सन्तोष नहीं होता, और जो सुखका धाम है वह प्रगट होनेके पश्चात् अन्य कोई इच्छा ही नहीं होती ऐसी कोई वस्तु अंतरमें मौजूद है। वह कब प्रगट हो ? कि जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करे तब। पहलेसे किसीको झलक नहीं आती, परन्तु जिन महापुरुषोंने प्रगट किया है वे उसे बदलाते हैं कि तू भी यह कर, हम उसका अनुभव करके तुझे कहते हैं। फिर यदि वह उनका विश्वास करे तो उसे स्वानुभूति होती है। साक्षात्कार होता है। आत्मा सुखका धाम है उसका विश्वास कर। जैसे माता–पिता बच्चेको समझाते हैं तो बच्चा उसका विश्वास करता है, वैसे ही ज्ञानी समझाते हैं तो अपनी बुद्धिसे कुछ विचार करे, फिर जबतक अनुभव न हो तबतक उनके वचनों पर विश्वास करते रहना। जैसे किसीकी दुकानपर रुपये रखने हों तो वहाँ वह पूरी दुकान नहीं देखता, परन्तु उसके अमुक लक्षणोंसे पहिचान लेता है कि यह दुकान अच्छी चल रही है। उसी प्रकार लक्षणसे पहिचान लेना चाहिये।

महापुरुष कहीं स्वानुभूति नहीं बतला सकते, परन्तु उसके लक्षण बतलाते हैं। लक्षणसे स्वयं विचार करना चाहिये; क्योंकि अपनेको सुख चाहिये, इसलिये इतनी तैयारी तो होनी चाहिये। बाह्यमें कहीं सुख नहीं है, सन्तोष नहीं है, मुझे कुछ और ही चाहिये, इतनी जिज्ञासा तो होनी ही चाहिये। फिर ज्ञानी पुरुष जो बतलाते हैं उसका विश्वास करके उस मार्ग पर पुरुषार्थ करना चाहिये, तब प्रगट होता है। झलक नहीं है तो स्वयं बुद्धिसे विचार करे, परीक्षा करे कि यह बात सत्य है, फिर विश्वासपूर्वक स्वयं आगे बढ़े। **(स्वानुभूतिदर्शन–४४६)**

❖

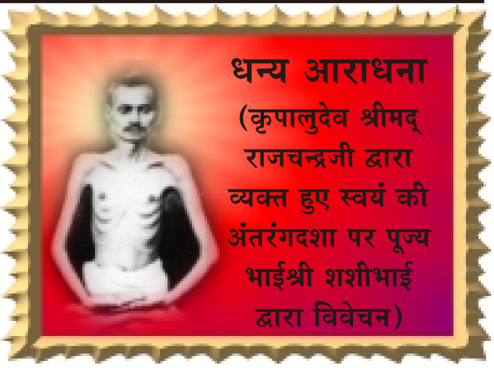

३९८

बंबई, श्रावण वदी १४, १९४८

'आत्माकारस्थिति और उपाधियोगरूप कारणसे मात्र उन पत्रोंकी पहुँच लिखी जा सकी है।'... 'अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबन्ध त्यागनेका विचार करें तो वैसा हो सकता है; तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और वैसी स्थिति है।' ... 'आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्रायः एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नहीं है, तथापि वह तो जिस प्रकारसे वेदन करना प्राप्त हो उसी प्रकारसे वेदन करता है, इसलिये उसमें समाधि है। परन्तु किन्हीं जीवोंसे परमार्थ सम्बन्धी प्रसंग आता है उन्हें उस उपाधियोगके कारणसे हमारी अनुकम्पाके अनुसार लाभ नहीं मिलता। 'दूसरे मुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकम्पासे परमार्थवृत्ति दी नहीं जा सकती, यह भी बहुत बार चित्तको खलता है।''

परमकृपालुदेवको अंतर उपादानमें आत्माकार स्थिति और निमित्तरूपसे उपाधियोग-ऐसे परस्पर दो विरुद्ध कारण प्राप्त हैं। जिसके कारण विस्तारसे पत्रोत्तर लिख नहीं पाये, सिर्फ पहुँच लिखी जा सकी है।

उन्हें उपाधियोग प्राप्तरूपसे वर्तता है। उस बाबतमें अपने विचार और निर्णय दर्शाते हुए लिखते हैं कि, इस योगके प्रतिबंधका त्याग करनेका विचार किया जाय तो उसका त्याग कर सकते हैं। त्याग करने पर स्वयंको आर्तध्यान होवे ऐसा भी नहीं है। तथापि उस उपाधियोगका सम्यक् प्रकारसे वेदन करने पर, पूर्वकर्मकी निवृत्ति विशेषरूपसे और विशेष अनुपातमें होनेकी परिस्थिति होनेसे, उसी प्रकार वेदन करनेके अलावा, दूसरी इच्छा नहीं रहती। पूर्वकर्म उदयमें आये और उसवक्त आत्मभावमें रहा जाय-उस प्रकारसे उसकी निवृत्ति होने दें, यह उचित है,-ऐसा जानकर वे ऐसी स्थितिमें रहे हैं।

चित्तकी स्थिति आत्माकारदशारूप हो जानेसे, ऐसा चित्त थोड़ा भी उपाधिभावका बोझ उठा सके, ऐसी स्थितिमें नहीं है। तथापि उदययोगमें जो-जो उपाधि आ जाती हैं, उसका भिन्न रहकर, आत्मामें आत्मभावसे रहकर-अनुभव करना, यह समाधि है। अर्थात् उपाधि आ जाने पर असमाधान नहीं होता और आर्तध्यान भी नहीं होता। परन्तु दूसरे जीवोंको परमार्थ संबंधी प्रसंग पड़ने पर, स्वयंके उपाधियोगके कारण उनकी इच्छित अनुकम्पा अनुसार लाभ नहीं मिल पाता है या कारुण्यवृत्ति होने पर भी उन्हें परमार्थवृत्ति नहीं दे सकते हैं, यानी कि दूसरे मुमुक्षु-जीवोंको आत्मकल्याणमें निमित्त होनेरूप सहयोग नहीं दे सकते हैं, तत्संबंधित कईबार चित्तमें खेद होता है, वह इसप्रकारसे कि, उदयकी विचित्र परिस्थिति दूसरे जीवको परमार्थवृत्ति प्राप्त होनेमें अंतराय होता है; यह चित्तको बहुत खलता है।

परमार्थके कारणके विषयमें उनकी परम कारुण्यवृत्तिका यहाँ दर्शन होता है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अप्रैल-२०१५) का शुल्क श्रीमती विमलाबहन टोकरशी सावला, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।